

संस्कृत साहित्य में भक्ति सिद्धान्त



सन्दीप कुमार मिश्र
शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद

शोध आलेख सार – ‘भक्ति’ मानव जीवन की सहज प्रवृत्ति व विश्वास का फल है। जिसका दिग्दर्शन हमें सर्वप्रथम उपलब्ध साहित्य में प्राचीनतम वेदों की संहिता भाग में होता है। आरण्यकों, ब्राह्मणों और उपनिषदों में भक्ति का निरन्तर विकास होता रहा। पौराणिक काल में भक्ति अपनी प्रौढता को प्राप्त कर गयी। भक्ति के अस्तित्व को सगुण, साकार ईश्वर की उपासना का प्रतिपादन करने वाले पांचरात्र और वैखानस आगमों ने ही नहीं, अपितु विशुद्ध ज्ञानमार्ग का प्रतिपादन करने वाले शङ्कराचार्य प्रभृति आचार्यों ने भी स्वीकार किया है।

मुख्य शब्द – संस्कृत, साहित्य, भक्ति, सिद्धान्त, आरण्यक, ब्राह्मण, उपनिषद।

आदिकाल से ही मानव की बुद्धि इस दृश्यमान जगत् के रहस्यात्मक तथ्यों के मूल को जानने के लिए उत्सुक रही है। इसी जिज्ञासा ने मानव इतिहास में अनेक आविष्कारों को जन्म दिया है। जब कभी कोई तथ्य मनुष्य की जानकारी की परिधि के अन्तर्गत नहीं आता, तो मनुष्य स्वाभाविक रूप से उस विस्मयकारी ‘वस्तु’ के समक्ष श्रद्धावनत हो जाता है और उसे दैवी शक्ति का रूप मानने लगता है। सृष्टि के प्रारम्भिक काल से ही प्रकृति के विभिन्न रूप (अग्नि, वृक्ष, पृथ्वी, सर्प) की पूजा के मूल में मनुष्य की यही स्वाभाविक प्रवृत्ति रही है। इसी स्वाभाविक प्रवृत्ति का ही विकसित रूप श्रद्धा, वेदन, उपासन, ध्यान और भक्ति है। अर्थात् भक्ति का उद्गम भी मानव जिज्ञासा और विश्वास की विकासजन्य परिणति का फल है।

जब हम भक्ति के मूल उद्गम की दृष्टि से विचार करते हैं तो सर्वप्रथम वैदिक वाङ्मय आता है। जिसके अन्तर्गत मानव इतिहास के अतिमहत्त्वपूर्ण और अप्राप्त ज्ञान समाहित हैं। वेदों के प्रति भारतीय जनमानस के विश्वास का सुस्पष्ट प्रमाण तो यही है कि भारतीय तत्त्वमीमांसा में आस्तिक तथा नास्तिक के मध्य की सीमारेखा ईश्वर की सत्ता नहीं, अपितु वेदों के प्रति व्यक्ति की श्रद्धा है।¹ इसी श्रद्धा के

कारण भारतीय जनता का आस्तिक वर्ग वेदों को अपौरुषेय तथा ईश्वर के मुख से निकला हुआ मानता रहा है। वेदों की इसी मान्यता के कारण तत्त्वमीमांसा के भी क्षेत्र में वेदों को आप्तवाक्यरूप शब्दप्रमाण की कोटि में रखा गया। समस्त आस्तिक दर्शनों ने एक स्वर से वेदों की सर्वोत्कृष्टता तथा सम्पूर्ण विद्याओं के मूल में वेद को स्वीकार किया है।

‘भक्ति’ शब्द ‘भज् सेवायाम्’ धातु से वित्तन् प्रत्यय लगने पर निष्पन्न होता है—जिसका अर्थ है ‘सेवा करना’। किसी को अपने से उत्कृष्ट सत्ता मानकर उसके सामने श्रद्धापूर्वक झुकना और उसके अनुकूल व्यवहार करना भक्ति कहलाता है। अनन्यानुरागोभक्तिः।

भक्ति के बीज वैदिक वाङ्मय से ही मिलने प्रारम्भ हो जाते हैं। ऋग्वेद की अनेक ऐसी ऋचाएँ हैं, जिनमें वैदिक ऋषियों द्वारा विभिन्न देवताओं की प्रार्थनाएँ, स्तुतियाँ की गयी हैं।² इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में भी भक्ति के तत्त्व दिग्दर्शित होते हैं। जैसे—ऐतरेय ब्राह्मण के 25वें अध्याय के सप्तम खण्ड में ओउम् की उत्पत्ति और उसके जप की महत्ता का वर्णन किया गया है।³ उपनिषदों में सर्वत्र परमपुरुषार्थ ब्रह्म की प्राप्ति कहीं ज्ञान द्वारा, कहीं उपासना द्वारा कहीं त्याग द्वारा और कहीं ध्यान द्वारा कही गयी है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में तो ‘भक्ति’ का स्पष्ट उल्लेख हुआ है।⁴ छांदोग्य उपनिषद् में ब्रह्मप्राप्ति या ज्ञान की अवस्था को आत्मरति कहा गया है। आत्मरति की अवस्था में भक्त को ऐसा मालूम पड़ता है कि सब कुछ परमात्मा है। वह परमात्मा में परम अनुराग, परमात्मा में आत्मक्रीडा, उनके संयोग का सुख तथा उन्हों के आनन्द का अनुभव करता हुआ परमात्मस्वरूप हो जाता है।⁵

भक्ति का विकसित स्वरूप पुराणों में प्राप्त होता है। भक्ति की दृष्टि से श्रीमद्भागवत महापुराण का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। श्रीमद्भागवतपुराण में भक्ति के स्वरूप के आधार पर भक्ति को नव कोटियों में विभाजित किया गया है। ईश्वर के गुणों को सुनना, गुणों का स्मरण करना, गुणगान करना, उनके चरणों की सेवा करना, पूजा करना, वन्दना करना, भगवान की दासता स्वीकार करना, भगवान को ही अपना मित्र—सखा समझना और भगवान् के सामने आत्मसमर्पण करना, यही भक्ति की नव कोटियाँ हैं।⁶ पुराणों के पश्चात् रामायण⁷ और महाभारत⁸ में भी भक्ति की चर्चा की गयी है। इसी प्रकार जैन⁹ तथा बौद्ध¹⁰ दर्शन में भक्ति के साक्ष्य प्राप्त होते हैं। पराशरनन्दन श्री वेदव्यास के अनुसार, ईश्वर की पूजा में अनुराग ही भक्ति है।¹¹ श्री गर्गाचार्य के अनुसार, ईश्वर की कथा आदि में अनुराग होना ही भक्ति है।¹²

शांडिल्य ऋषि के अनुसार—आत्मरति के अविरोधी विषय में अनुराग होना भक्ति है।¹³ परन्तु नारद जी के अनुसार, अपने समस्त कर्मों को ईश्वर में अर्पण करना और ईश्वर का विस्मरण होने पर परम व्याकुल हो जाना ही भक्ति है। ऐसी भक्ति व्रजगोपियों की है।¹⁴ योगसूत्र के अनुसार भक्ति ‘ईश्वर प्रणिधान है।’¹⁵

नारदजी ने प्रेम—भक्ति के स्वरूप को ‘अनिर्वचनीय’¹⁶ कहा है। जिस प्रकार गँगा व्यक्ति किसी स्वाद को वाणी रूप में व्यक्त नहीं कर पाता, उसी प्रकार भक्ति भी किसी तरह कही नहीं जा सकती। “यज्ञ, दान, तप आदि जितने भी शास्त्रविहित कर्म हैं, उन सबका पर्यवसान परमात्मा में ही होता है। सभी प्राणियों में ईश्वर मौजूद है, अतः उनकी सेवा—पूजा करना ईश्वर की पूजा है।”¹⁷ जब भक्त समस्त संसार को ईश्वर का ही रूप समझने लगता है, तो उसे संसार के प्रत्येक कार्य में ईश्वर—विधान ही दिखायी पड़ता है। संसार में जो कुछ भी होता है, सब ईश्वर की कृपा से ही होता है। ऐसे भक्त में सहृदयता का भाव आ जाता है। उसमें द्वेषभाव का नाश हो जाता है। उसमें क्षमा, समता, आदि अच्छे गुण आ जाते हैं।¹⁸

अद्वैत वेदान्त के आचार्य भी भक्ति के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। वैसे तो अद्वैत वेदान्त सामान्यतः ज्ञानमार्ग का प्रतिपादन करता है। परन्तु भक्ति को भी वे सर्वथा नकार नहीं सके हैं माण्डूक्यकारिका के रचयिता आचार्य गौडपाद स्वयं अद्वैतवेदान्त के परमगुरु नारायण¹⁹, अद्वैत दर्शन²⁰ और परमपद²¹ की वन्दना करते हैं। पुनश्च एक अन्य स्थल पर आचार्य गौडपाद चित्तवृत्ति को ओड्कार में समाहित करने को कहते हैं।²² जिसे दूसरे शब्दों में ‘ध्यान’ कहा जा सकता है।

आचार्य शङ्कर अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य के उत्पत्यसंभवाधिकरण में पांचरात्र द्वारा प्रतिपादित चतुर्व्यूहसिद्धान्त का खण्डन करते हुए पांचरात्रों द्वारा अभिमत अभिगमन, उपादानादि रूप भक्ति के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं।²³ इसी प्रकार ‘अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्’²⁴ इस सूत्र के भाष्य में ‘संराधन’ शब्द का अर्थ आचार्य शङ्कर भक्ति, ध्यान और प्रणिधानादि करते हैं।²⁵

आचार्य शङ्कर भक्ति के अभिन्न अङ्ग ईश्वरप्राप्ति के साधनभूत ‘ईश्वरप्रसाद’ के सिद्धान्त को भी स्वीकार करते हैं। ब्रह्मसूत्र के ‘परायत्ताधिकरण’ में आचार्य शङ्कर कहते हैं कि परमात्मा के अनुग्रह से उत्पन्न विज्ञान द्वारा ही मोक्ष सम्भव है।²⁶ इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर शङ्कराचार्य ने ईश्वरप्रसाद से योगियों के भूत और भविष्य ज्ञान की उत्पत्ति को उद्धृत करते हुए ईश्वर के सृष्टि, रिथिति और संहारविषयक ज्ञान की नित्यता का प्रतिपादन किया गया है।²⁷

आचार्य रामानुज के अनुसार—प्रत्यक्षता की कोटि को प्राप्त होने वाली ध्रुवानुसृति ही भक्ति शब्द का अर्थ है। जिसका स्वरूप तैलधारा के समान अविच्छिन्न हो, ऐसी सृति ही ध्रुवानुसृति मानी गयी है। इसी को वेदान्तदेशिक ने विसदृश बुद्धि के व्यवधान से रहित सृतिप्रवाह कहा है।²⁸

परन्तु ध्रुवानुसृति प्रत्यक्षता की स्थिति को कब और कैसे प्राप्त होती है? इसका उत्तर देते हुए भाष्यकार कहते हैं कि भावना के प्रकर्ष से सृति की दर्शनसमानाकारता होती है। भावना से तात्पर्य 'पुनः पुनः' सृति से है। जिसे वेदान्तदेशिक अनुभवजन्यसंस्काररूपा चिन्ता कहते हैं।²⁹ तात्पर्य यह है कि कोई भी व्यक्ति किसी के भी प्रति जब सतत चिन्तारत हो जाता है तो उसे वही सर्वत्र दिखायी पड़ने लगता है, यह चिन्ता या भावना, प्रेम, भय, ममता और द्वेष आदि किसी भी कारणों से हो सकती है।³⁰ वाल्मीकि रामायण में मारीच स्वयं रावण से कहता है कि मैं वृक्ष वृक्ष में पाशधारी यमराज के सदृश कृष्ण मृगचर्म का वस्त्र पहने हुए धनुर्धारी राम को देखता हूँ।³¹ यहाँ पर वस्तुतः मारीच को पूर्व दृष्ट राम का स्मरण मात्र होता है। चूँकि उसने राम के पूर्वपराक्रम को स्वयं देखा था और उससे प्रताडित हुआ था, अतः भयवश होने वाला पुनः पुनः स्मरण ही उसके लिए दर्शन रूप हो गया।

'ध्रुवानुसृति' शब्द ध्रुव, अनु एवं सृति इन तीन शब्दों से मिलकर बना है। सृति के साथ 'अनु' शब्द का प्रयोग जहाँ सृति के पुनः पुनः प्रतिसन्धान को अभिव्यक्त करता है तो वहीं पर 'ध्रुव' शब्द द्वारा सृति के स्थिरत्व का बोध होता है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक प्रकार की सृति ध्रुवानुसृति नहीं हो सकती, परन्तु नैरन्तर्य एवं स्थिरत्व से विशिष्ट सृति ही ध्रुवानुसृति कही जा सकती है। आचार्य रामानुज अपने गीता—भाष्य में सृति को लक्षित करते हुए लिखते हैं कि पूर्वानुभूत विषय के अनुभवजन्यसंस्कार से उत्पन्न होने वाला ज्ञान ही सृति है। चूँकि रामानुज के अनुसार ज्ञान सर्वदा सत्यविषयक होता है, अतएव अनुभवजन्य संस्कार से उत्पन्न होने वाला सृतिरूप ज्ञान यथार्थज्ञान है।

संक्षेपतः यह कहा जा सकता है कि 'भक्ति' मानव जीवन की सहज प्रवृत्ति व विश्वास का फल है। जिसका दिग्दर्शन हमें सर्वप्रथम उपलब्ध साहित्य में प्राचीनतम वेदों की संहिता भाग में होता है। आरण्यकों, ब्राह्मणों और उपनिषदों में भक्ति का निरन्तर विकास होता रहा। पौराणिक काल में भक्ति अपनी प्रौढता को प्राप्त कर गयी। भक्ति के अस्तित्व को सगुण, साकार ईश्वर की उपासना का प्रतिपादन करने वाले पांचरात्र और वैखानस आगमों ने ही नहीं, अपितु विशुद्ध ज्ञानमार्ग का प्रतिपादन करने वाले शङ्कराचार्य प्रभृति आचार्यों ने भी स्वीकार किया है। आचार्य रामानुज तक भक्ति अपने उत्कट एवं प्रबल रूप में पोषित होती हुई दिखायी पड़ती है।

सन्दर्भ सूची

1. नास्तिको वेदनिन्दकः – मनुस्मृति, 2 / 11
2. तमु स्तोतारः पूर्वं यथाविद
ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन ।
आस्य जानन्तो नाम चिद् विविक्तन
महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे ॥ – ऋग्वेद, 1 / 156 / 3
3. यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात् ताम् ध्यायेत् । – ऐतरेय ब्राह्मण, 11 / 8
4. यस्य देवे पराभवितर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिताः ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥ – श्वेताश्वतरोपनिषद्, 6 / 23
5. आत्मैवेदं सर्वमिति स वा एव एवं पश्यन्नेवं मन्वानं एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीडा आत्ममिथुन
आत्मानन्द, स स्वराङ् भवति” ।
– छान्दोग्य उपनिषद्, 7 / 25 / 2
6. श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनम् वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥
– श्रीमद्भागवतपुराण, 7 / 5 / 23
7. सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् ब्रतं मम् ॥ – रामायण-6 / 105 (6 / 18 / 33)
8. भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥ – गीता, 11 / 54
9. सम्यग् दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्गाः ॥ – तत्त्वार्थसूत्र, 1 / 1
10. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥ – तत्त्वार्थसूत्र, 1 / 2
11. पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः ॥ – नारदभवितसूत्र, 16
12. कथादिष्विति गर्गः ॥ – नारदभवितसूत्र, 17
13. आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः ॥ – नारदभवितसूत्र, 18
- 14.(क) नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारिता तदविस्मरणे परमव्याकुलतेति ॥ – वही, 19

- (ख) यथा व्रजगोपिकानाम् । — वही, 21
15. ईश्वरप्रणिधानाद्वा— योगसूत्र, 1 / 23
 16. अनिर्वचनीयस्वरूपम्— नारदभक्तिसूत्र
 17. भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥— श्रीमद्भगवद्गीता, 5 / 29
 - 18.(क) अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥— श्रीमद्भगवद्गीता, 12 / 13
- (ख) यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
- हर्षमर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥— वही, 12 / 15
- (ग) समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥— वही, 12 / 18
19. ज्ञानेनाकाशकल्पेन धर्मान्यो गगनोपमान् ।
ज्ञेयाभिन्नेन संबुद्धस्तं वन्दे द्विपदां वरम् ॥— माण्डूक्यकारिका, 4 / 1
 20. अस्पर्शयोगो वै नाम सर्वसत्त्वसुखो हितः ।
अविवादोऽविरुद्धश्च देशितस्तं नमास्यहम् ॥— वही, 4 / 2
 21. दुर्दर्शमतिगम्भीरमजं साम्यं विशारदम् ।
बुद्ध्वा पदमनानात्वं नमस्कुर्मो यथाबलम् ॥— माण्डूक्यकारिका, 4 / 100
 22. युंजीत प्रणवे चेतः प्रणवो ब्रह्म निर्भयम् ।
प्रणवे नित्ययुक्तस्य न भयं विद्यते कवचित् ॥— माण्डूक्यकारिका, 1 / 25
 23. यद्यपि तस्य भगवतोऽभिगमनादिलक्षणमाराधनमजस्त्रमनन्यचित्ततयाभिप्रेयते
तदपि न प्रतिषिद्धयते, श्रुतिस्मृत्योरीश्वरप्रणिधानस्य प्रसिद्धत्वात् ॥”
—ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य, 2 / 2 / 42
 24. ब्रह्मसूत्र, 3 / 2 / 24
 25. संराधनं च भवितध्यानप्रणिधानाद्यनुष्ठानम् ।— वही, 3 / 2 / 24
 26. तदनुग्रहहेतुकेनैव च विज्ञानेन मोक्षसिद्धिर्भवितुमर्हति ॥— वही, 3 / 2 / 41
 27. यत्प्रसाद्वि योगिनामप्यतीतानागतविषयं प्रत्यक्षं ज्ञानमिच्छन्ति योगशास्त्रविदः,

किमु वक्तव्यं तस्य नित्यसिद्धस्येश्वरस्य सृष्टिस्थितिसंहतिविषयं नित्यज्ञानं भवतीति । — ब्रह्मसूत्र
शाङ्करभाष्य, 1/1/5

28. स्मृतेर्धुवत्वं विसदृशबुद्धिव्यवधानरहितप्रवाहत्वम् ।— तत्त्वटीका
29. भावना अनुभवजन्यसंस्कारचिन्तैव ।— तत्त्वटीका
30. दृष्टं परोक्षमपि ध्यायमानसाक्षादभावमापन्नं कामाद्युपप्लवे ।— वही
31. वृक्षे वृक्षे च पश्यामि चीरकृष्णाजिनाम्बरम् ।
गृहीतधनुषं रामं पाशहस्तमिवान्तकम् ॥— वाल्मीकि रामायण, 3/39